चित्र-विचित्र जीव संसार

हमारे केवलज्ञानी, देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवंत ने अपने ज्ञान के माध्यम से जैसा जीव-सृष्टि को देखा, जाना व समझा है तथा समझाया है, वह सत्य ही है; बहुत ही व्यवस्थित है; और उनकी समझावट में पूरी जीव-सृष्टि का वर्णन है।

जो लोग जीव-सष्टि में से किसी जीव विशेष को लेकर अध्ययन करते हैं वे जीव रूपी-दृश्य ही होते है, अरूपी-अदृश्य नहीं। वे जीव संसारी-सकर्मा ही होते है, मुक्त-अकर्मा नहीं। जबकि देवाधिदेव भगवंत के द्वारा प्रदर्शित जीव-सृष्टि में सिद्ध संसारी, सूक्ष्म बादर, रूपी अरूपी, त्रस स्थावर, आदि सभी जीव आ जाते हैं।

भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से जीवों का वर्गीकरण

परमात्मा ने चैतन्य आदि भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से जीवों को कई-कई वर्गों में बाँटा है; जैसे कि-

शुद्ध चैतन्य की अपेक्षा से सभी जीव मूलतः एक ही समान है; क्योंकि सभी जीवों में एक सा ही चैतन्य है, एक सा ही उपयोग गुण है; एक समान ही गुण व शक्तियाँ हैं; सभी में शुद्धता, पूर्णता और स्थिरता एक जैसी ही हैं; चाहे वे जीव सिद्ध हों या संसारी।

परमात्मा ने सभी संसारी-सकर्मा अर्थात् कर्मसहित जीवों को दो वर्गों में बाँटा हैं- (१) त्रस, (२) स्थावर।

जो ठंडी, गर्मी, भय, भूख, प्यास आदि किसी भी अच्छे या बुरे निमित के कारण इधर-उधर गति आगति-जावन आवन, हलन-चलन आदि कर सकते हैं, वे जीव त्रसकायिक कहलाते हैं।

'त्रस' नामक नामकर्म के उदय से जीवों को त्रस पर्याय प्राप्त होती है।

स्थावर जीव वे हैं जो ठंडी, गर्मी, सुख, दुःख आदि संयोगों में स्थावर-स्थिर ही बने रहते हैं; किसी भी प्रकार से इधर-उधर जावन आवन, हलन चलन आदि नहीं कर सकते।

'स्थावर' नामक नामकर्म के उदय से जीवों को ऐसी स्थावर-स्थिर पर्याय प्राप्त होती है।

वेद की अपेक्षा से सभी संसारी जीवों को तीन वर्गों में बाँटा है (१) स्त्रीवेदी, (२) पुरुषवेदी, (३) नपुंसकवेदी।

यह स्त्री है, या पुरुष या नपुंसक; इसकी पहचान के लिए बाहरी चिन्ह द्रव्यवेद कहलाते हैं; जबकि स्त्री को पुरुष के साथ; पुरुष को स्त्री के साथ और जीव को स्त्री और पुरुष दोनों के साथ जो रमण करने की इच्छा होती है वो क्रमशः स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद कहलाती है।

एकेन्द्रिय से चउरिन्द्रिय जीव, सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंचों, सम्मूर्च्छिम् मनुष्यों एवं नारकी जीवों में नपुंसक-वेद ही पाया जाता है। गर्भज तिर्यंचों और मनुष्यों में तीनों वेद पाए जाते है जबकि चारों प्रकार के देवों में स्त्रीवेद एवं पुरुषवेद पाया जाता है; नवग्रैवेयक और पांच अनुत्तर देवों में अत्यंत सूक्ष्म पुरुष-वेद पाया जाता है।

परमात्मा ने गति की अपेक्षा से भी संसारी जीवों को चार वर्गों में बाँटा हैं - (१) नारक, (२) तिर्यंच, (३) मनुष्य, (४) देव।

जो जीव नरक-गति में हैं वे नारक; जो तिर्यंच गति में हैं वे तिर्यंच; जो मनुष्य गति में है वे मनुष्य तथा जो देव गति में हैं वे देव कहलाते हैं।

'गति' नामक नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाली पर्याय गति कहलाती है।

चित्र-विचित्र तिर्यंच संसार

परमात्मा ने इन्द्रियों की अपेक्षा से सभी संसारी जीवों को पाँच वर्गों में बाँटा हैं - (१) एकेन्द्रिय, (२) द्वीन्द्रिय, (३) तेइन्द्रिय, (४) चउरिंद्रिय, (५) पंचेन्द्रिय।

आत्मा के चिन्ह स्वरूप हैं इन्द्रियाँ। शरीर के अंगभूत हैं इन्द्रियाँ।

इन्द्रियाँ पाँच हैं - (१) स्पर्शन इन्द्रिय-त्वचा, (२) रसना इन्द्रिय-जिह्वा, (३) घ्राण इन्द्रिय-नासिका, (४) चक्षु इन्द्रिय-आँख, (५) श्रोत्र इन्द्रिय-कान।

पाँचों इन्द्रियों के संस्थान-बनावट, आकार और विषय भी जुदा जुदा है। पाँचों इन्द्रियों के कुल विषय २३ एवं उन विषयों के उपभेद २४० हैं।

जिन जीवों के पास एक-स्पर्शन इन्द्रिय है, वे एकेन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे कि पृथ्वीकाय, अप्काय, तैजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीव। इन

पाँचों निकायों के जीव दो प्रकार के होते हैं - (१) सूक्ष्म, (२) बादर।

जिन जीवों का शरीर अत्यंत सूक्ष्म हो, किसी भी इंद्रिय से किसी भी तरह अग्राह्य हो वे जीव सूक्ष्म कहलाते हैं। सूक्ष्म नामक नामकर्म के उदय में जीवों को ऐसी पर्याय प्राप्त होती है।

जिन जीवों का शरीर बादर-स्थूल होता है, वे जीव बादर कहलाते हैं। बादर नामक नामकर्म के उदय से जीवों को ऐसी पर्याय प्राप्त होती है।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव समूचे लोक में व्याप्त हैं, वे स्वभावतः अदृश्यत होते हैं, और उनकी महत्तम आयुष्य मात्र अंतर्मुहूर्त (४८ मिनट से कुछ कम) कालप्रमाण ही होती है।

बादर एकेन्द्रिय जीव चौदह-रज्जु लोक के सीमित क्षेत्र में पाए जाते हैं।

प्रत्येक सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय जीवों के दो-दो भेद हैं - (१) पर्याप्ता, (२) अपर्याप्ता।

पर्याप्तियाँ छः है - (१) आहार, (२) शरीर, (३) इन्द्रिय्, (४) श्वासोच्छ्वास, (५) भाषा, (६) मन।

एकेन्द्रिय जीवों को पहली चार; द्वीन्द्रिय, त्रीरिन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को पाँच; सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में चार; एवं संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को छः पर्याप्तियाँ प्राप्त होती है।

जो जीव स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करें, वे पर्याप्ता; और जो जीव स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण न करें; वे जीव अपर्याप्ता कहलाते हैं।

जिन जीवों के पास दो- स्पर्शन और रसना इन्द्रियाँ हैं; वे द्वीन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे कि– लट, सीप, अलसिया, शंख कौडी, जलो, कृमि वगैरह। द्वीन्द्रिय जीवों को प्रायः पाँव नहीं होते हैं।

जिन जीवों के पास तीन– स्पर्शन, रसना और घ्राण इन्द्रियाँ हैं; वे त्रीरिन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे कि-कीड़ी, मोकड़ा, कानखजूरा, घोंघा, खटमल, दीमक, गोबर तथा धान्य में पैदा होने वाले कीड़े वगैरह। त्रीरिन्द्रिय जीवों को प्रायः चार, छः या उनसे अधिक पाँव होते हैं।

जिन जीवों के पास चार– स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन्द्रियाँ हैं, वे

चउरिंद्रिय कहलाते हैं। जैसे कि– मक्खी, मच्छर, भँवरा, टिड्डा, डांस, बिच्छु वगैरह। चउरिंद्रिय जीवों को सामान्यतया छः या आठ पाँव होते हैं।

द्वीन्द्रिय, त्रीरिन्द्रिय और चउरिंद्रिय जीवों में से कुछ जीवों को मूँछे होती है। द्वीन्द्रिय, त्रीरिन्द्रिय और चउरिंद्रिय जीव विकलेन्द्रिय कहलाते हैं।

विकलेन्द्रिय जीव ऊर्ध्व और अधोलोक में उत्पन्न नहीं होते; मात्र मध्यलोक में ही उत्पन्न होते हैं।

प्रत्येक विकलेन्द्रिय के दो-दो भेद हैं - (१) पर्याप्ता, (२) अपर्याप्ता।

जिन जीवों के पास पाँच– स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियाँ हैं, वे पंचेन्द्रिय कहलाते हैं। पंचेन्द्रिय जीव चार प्रकार के होते हैं - (१) नारक, (२) तिर्यंच, (३) मनुष्य, (४) देव।

द्वीन्द्रिय, त्रीरिन्द्रिय, चउरिंद्रिय और पंचेन्द्रिय जीव बादर ही होते हैं। स्थावर और विकलेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीवों का विकास हर रीति से विशेष यानि कि बहुत अधिक होता है।

परमात्मा ने काय की अपेक्षा से सभी संसारी जीवों को छः वर्गों में बाँटा हैं– (१) पृथ्वीकाय (२) अप्काय (३) तैजस्काय (४) वायुकाय (५) वनस्पतिकाय (६) त्रसकाय. काय अर्थात् राशि या समूह. काय का ही पर्यायवाची शब्द है निकाय।

पृथ्वीकायिक जीवों की राशि को पृथ्वीकाय, अप्कायिक जीवों की राशि को अप्काय, तैजस्कायिक जीवों की राशि को तैजस्काय, वायुकायिक जीवों की राशि को वायुकाय, वनस्पतिकायिक जीवों की राशि को वनस्पतिकाय और त्रसकायिक जीवों की राशि को त्रसकाय कहा जाता है।

पृथ्वीरूप काया– शरीर को धारण करने वाले जीव पृथ्वीकायिक कहलाते हैं।

स्फटिक, मणि, रत्न प्रवाल आदि वस्तुएँ जब तक पृथ्वी के उदर में पाई जाती हैं, तब तक वे सचित्त– जीवनी शक्ति से युक्त कहलाती हैं; अतः उनकी गणना पृथ्वीकाय के रूप में की जाती है। मगर जब ये वस्तुएँ पृथ्वी के उदर से बाहर निकाली जाती है तो शस्त्र, अग्नि, रसायन आदि के प्रयोग से ये जीवरहित हो जाती है, तब इनकी गणना अचित-अजीव-जड़ पदार्थों में की जाती है।

जलरूप शरीर को धारण करने वाले जीव अप्कायिक कहलाते हैं। स्थूल

अप्कायिक जीवों में कई भेद हैं; जैसे कि– भूमि का पानी, आकाश का पानी, हिम, ओले, दर्भ अथवा घास पर होने वाला जल, कुहासा, घनोदधि आदि।

अग्निरूप शरीर को धारण करने वाले जीव तैजस्कायिक कहलाते हैं। स्थूल तैजस्कायिक जीवों के कई भेद हैं; जैसे कि– अंगारा, ज्वाला, चिंगारी, उल्का की अग्नि, विद्युत आदि।

वायुरूप शरीर को धारण करने वाले जीव वायुकायिक कहलाते हैं। स्थूल वायुकायिक जीवों के कई भेद हैं; जैसे कि– गोल-गोल घूमती हुई तिनके आदि को ऊपर ले जाने वाली वायु, आँधी, धीमे-धीमे बहने वाली वायु, गुंजारव करने वाली वायु, घनवात, तनुवात आदि।

विशेषः- पृथ्वी, पानी, अग्नि और वनस्पति की तरह वायु दिखती नहीं है; मगर ध्वजा एवं पत्तों के हिलने से इसकी प्रतीति अवश्य होती है। वायु में वजन भी पाया जाता है।

वनस्पतिरूप शरीर को धारण करने वाले जीव वनस्पतिकायिक कहलाते हैं। जैसे कि– स्थूल वनस्पति के दो भेद हैं– (१) प्रत्येक (२) साधारण।

जिस वनस्पति के एक शरीर में एक जीव रहे, वह प्रत्येक वनस्पति और जिस वनस्पति के एक शरीर में अनन्त जीव रहें, वह साधारण वनस्पति कहलाती है। साधारण वनस्पति की अनेक निशानियाँ हैं; जैसे कि– काटने के पश्चात् उगने वाली सभी वनस्पतियाँ; सभी प्रकार के कन्द- जिस वनस्पति के अवयव भूमि के अंदर में रहते हों; अंकुर, कोंपल, पंचवर्णी– लाल, पीली, बादली, काली और सफेद रंग की फफुंद; शैवाल, हरी हल्दी, अदरक, गाजर आदि।

चल फिर सकने योग्य शरीर को धारण करे वाले जीव त्रसकायिक कहलाते है। जैसे कि-बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

चारों गतियों में से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय्, त्रीरिन्द्रिय और चउरिन्द्रिय जीव तो मात्र तिर्यंच-गति में ही पाए जाते हैं; मगर पंचेन्द्रिय जीव चारों गतियों में पाए जाते हैं। तिर्यंचगति में पाए जाने वाले पंचेन्द्रिय जीव तीन प्रकार के होते हैं - (१) जलचर, (२) स्थलचर, (३) खेचर।

(१) जलचर– जल में चलने वाले जीव। जैसे कि– मच्छ, कच्छप, मगर, ग्राह, और सुंसुमार आदि।

(२) स्थलचर– स्थल पर चलने-फिरने वाले जीव; चाहे वे एक खुर वाले अश्व आदि हों, चाहे वे दो खुर वाले बैल आदि हों, और चाहे वे गोल पैर वाले हाथी आदि हों, चाहे वे सनख– नख सहित पैर वाले सिंहादि हों।

स्थलचर जीव तीन प्रकार के होते हैं– (१) चतुष्पद (२) उरपरिसर्प (३) भुजपरिसर्प।

अ. चतुष्पद– चार पैरों वाले पशु। जैसे– गाय, भैंस, घोड़ा, गधा, बकरी, कुत्ता, बिल्ली, शेर आदि।

ब. उरपरिसर्प– छाती के बल पर रेंगने वाले जीव। जैसे– सर्प, अजगर, आसालिक, महोरग आदि।

स. भुजपरिसर्प– भुजाओं के बल पर चलने वाले जीव। जैसे– गोह, चूहा, छिपकली, गिरगिट, नेवला दि।

(३) खेचर– आकाश में उड़ने वाले जीव। ये चार प्रकार के होते हैं।

सभी तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं। (१) संज्ञी, (२) असंज्ञी।

जो जीव समनस्क-दीर्घकालिकी संज्ञा से युक्त हों; वे जीव संज्ञी और जो जीव अमनस्क-दीर्घकालिकी संज्ञा से रहित हों, वे असंज्ञी कहलाते हैं।

सभी संज्ञी और असंज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते हैं– (१) पर्याप्ता, (२) अपर्याप्ता।

सच में जैसे जीव अनंत हैं वैसे ही उनकी बातें भी अनंत हैं। उनके विषय में जितना कहें वह कम ही है। हाँ, यह बात निश्चित है कि हम छद्मस्थ जितना जान पाएंगे, उससे अज्ञात व अज्ञेय अनंत गुणा अधिक ही शेष बचेगा।

तिर्यंच गति में उत्पन्न होने के कारण

पुत्ताइसु पडिबद्धा, अण्णाण-पमायसंगया जीवा।
उप्पज्जंति धण्णप्पियवणिउ व्वेगिंदिएसु बहुं।। भव-भावना १८५।।

पुत्रादिकों के प्रति प्रतिबद्ध-अत्यधिक आसक्त, अज्ञानी और प्रमादी जीव धनप्रिय वणिक् की तरह बार-बार एकेन्द्रियपने में जन्मते और मरते रहते हैं।

जिणधम्मुवहासेणं, कामासत्तीइ हिययसढयाए।
उम्मग्गदेसणाए सया वि केलीकिलत्तेण।।

कूडक्कयअलिएणं, परपरिवाएण पिसुणयाए य।
विगलिंदिएसु जीवा, वच्चंति पियंगुवणिओ व्व।। भव-भावना १८७-१८८।।

जिनधर्म के प्रति उपहास के कारण, कामासक्ति, हृदय की शठता, उन्मार्ग-देशना, क्रीड़ा-हास्य, कूट-माया पूर्वक लेन-देन, झूठ, परपरिवाद-निंदा, चुगलखोरी से प्रियंगु वणिक् की तरह जीव विकलेन्द्रियों– द्वीन्द्रिय, त्रीरिन्द्रिय और चउरिन्द्रियपने में पैदा होते हैं।

कज्जत्थी जो सेवइ मित्तं, कज्जे उ कए विसंवयइ।
कूरो मूढमइओ, तिरिओ सो होइ मरिऊणं।।

जो स्वार्थ-सिद्धि के समय तो मित्र के आगे-पीछे घूमता है मगर स्वार्थ पूरा हो जाने पर उसी मित्र की निंदा करता है ऐसा स्वार्थी, क्रूर, मूढमति व्यक्ति मरकर तिर्यंच गति में पैदा होता है।

चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्खजोणिय आउयत्ताए कम्मं पगरेंति तंजहा-माइल्लताए। नियडिल्लताए। अलिवयणेणं। कूडतूल-कूडमाणेणं।। स्था. ४/४/३७३।।

चार कारणों से जीव तिर्यंच गति प्रायोग्य आयुष्य कर्म बाँधते हैं-(१) माया-कूड, कपट से, यानि कुटिलता भरे व्यवहार के कारण। (२) निकृति-ढोंग करते हुए दूसरों को ठगने के कारण। (३) अलिक वचन-झूठ बोलने के कारण। (४) कूटतौल-कूटमान-व्यापार, व्यवहार में झूठे माप तौल से।

चित्र-विचित्र नारकी संसार

कभी-कभी जीव जाने अंजाने तीव्र-भाव पूर्वक क्रियमाण महाहिंसा, महापरिग्रह, पंचेन्द्रिय जीवों का वध, मासंभक्षण, परस्त्रीगमन, चोरी, अत्यंत आसक्ति आदि घोर पाप-कृत्यों के कारण नरकभूमि प्रायोग्य आयुष्य कर्म को बाँध लेता हैं; परिणामतः उसे नरकभूमि पर जन्म धारण करना पड़ता है। नरकभूमियाँ सात हैं-

(१) रत्नप्रभा, (२) शर्कराप्रभा, (३) वालुकाप्रभा, (४) पङ्कप्रभा, (५) धूम्रप्रभा, (६) तमःप्रभा, (७) महातमःप्रभा।

किसी-किसी ग्रंथ में सातों नरक-भूमियों के उपरोक्त नामों को गोत्रनाम के रूप में सूचित किया गया है; और नामों के रूप में निम्न सात नाम दिए हैं

(१) घम्मा, (२) वंसा, (३) सेला, (४) अंजना, (५) रिट्ठा, (६) मघा, (७) माघवई।

नरकभूमियों का स्वरूप

नरकावासों का आकार बड़ा विचित्र होता है। नरकावास अत्यंत अशुचि पदार्थों से विशेषतः अत्यंत दुर्गंधित चर्बी, मांस और खून के कीचड़ से भरी हुई है। नरकावासों का वर्ण, गंध, स्पर्शादि भी अशुभ है। नरकों में जो भी मांसादि पदार्थ है वे सब परमाधार्मिक देवों के द्वारा विकुर्वित है, बनाए हुए है। चौथी, पाँचवी, छठी और सातवीं नरकभूमियों में परमाधार्मिक देवता नहीं पा जाते हैं अतः वहाँ वैसी विकुर्वित वस्तुएँ तो नहीं हैं मगर यूं ही उन नरकभूमियों में अत्यंत दुःसह्य दुर्गंधि है।

तीन प्रकार की वेदना

नारकी जीवों को मुख्यतः तीन रीतियों से वेदना सहनी पड़ती है।

(१) क्षेत्रजन्य वेदना (२) परस्परोदीरित वेदना (३) संक्लिष्ट अध्यवसायी परमाधार्मिक देवों द्वारा दी जाने वाली वेदना।

पहली दो प्रकार की वेदना तो सातों नरक-भूमियों में पैदा होने वाले सभी नारकियों को एवं तीसरे प्रकार की वेदना पहली तीन नरक-भूमियों में पैदा होने वाले नारकी जीवों को भोगनी पड़ती है।

नारकी जीवों के दुःखों का संक्षेप में स्वरूप

नारकी जीवों को निमेष मात्र-आँख खोलने और मूंदने के बीच व्यतीत होने वाले काल जितना भी सुख नहीं है। इनका जन्म छोटे कंठ वाली कुंभिओं में होता है तो परमाधार्मिक देवता उन्हें खींच-खींच कर, टुकड़ों के रूप में निकालते हैं। जन्म के समय से लेकर मृत्यु काल तक उन्हें अतिशीत, अतिउष्म, अतितृष्णा, अतिक्षुधा और अतिभय आदि सैंकड़ों प्रकार के दुःख निरंतर भोगते रहने पड़ते हैं।

सातों नरक-भूमियों में हर शुभ वस्तु भी अशुभ रूप में परिणत हो जाती है। इन्हें भूख, प्यास तो इतनी लगती है कि एक नारकी जीव संपूर्ण संसार के सकल पदार्थ खा लेने पर भी तृप्ति महसूस नहीं कर सकता; सभी सरोवरों,

नदियों, समुद्रों का जल पी लेने पर भी उसकी प्यास नहीं बुझती। खुजली होने पर ये छुरी से स्वयं के शरीर को खुजलाते है मगर इससे उनकी खुजलाहट मिटती नहीं; बल्कि बढ़ती रहती है। इन्हें शीत-वेदना तो बर्फीले हिमालय पर्वत के शिखर से भी अनंतगुणी अधिक सहनी पड़ती है। खैर के अंगारों की उष्णता से अनंतगुणी अधिक उष्णवेदना उन्हें निरंतर सहनी पड़ती है।

पहली नरकभूमि की अपेक्षा दूसरी नरकभूमि में और दूसरी की अपेक्षा तीसरी में; इसी प्रकार उत्तरोत्तर शीतवेदना या उष्णवेदना अनंत गुणी अधिक बढ़ती ही रहती है।

वैक्रिय शरीर होने के कारण नारकी जीव अलग-अलग तरह के भयंकर रूप बनाकर एक-दूसरे को त्रास ही त्रास देते रहते हैं। नारकियों के अंग पारे की तरह बारबार बिखर जाने पर भी पुनः स्वतः जुड़ जाते हैं। वे साँप, बिच्छु, नेवले इत्यादि वज्रमुखी क्षुद्र जीवों का रूप बनाकर एक-दूसरे को काटते रहते हैं। कीड़े-मकोड़े इत्यादि रूपों को धारण करके एक-दूसरे के शरीर में घुस जाते हैं।

पहली तीन नरक-भूमियों तक तो परमसंक्लिष्ट-परिणामी, नरकपाल, परमाधार्मिक देवता भी नारकी जीवों को उनके पाप-कृत्य याद करवाते हुए नानाविध रूप से बेहद कष्ट पहुँचाते हैं। वे उन्हें आकाश में ले जाकर सहसा नीचे की ओर पैंक देते हैं। वे नारकियों के अंग, प्रत्यंगों को छूरियों से काटते हैंः उनके छोटे छोटे टुकड़े करते हैं। वे नारकियों को रस्सियों से जकड़ जकड़ कर बाँधते हैं; लातों, घूसों से मारते रहते हैं; और भयंकर स्थानों पर ले जाकर छोड़ देते हैं। बहुत से पारमाधार्मिक देवता नारकियों की आंते, नसें, कलेजे आदि को खींच खींचकर बाहर निकालते हैं। कुछ परमाधार्मिक देवता भालों के तीखे तीखे अग्रभागों में नारकियों को पिरोते हैं। नारकियों के अंगोंपांगों को फोड़ते हैं। लोहे के हथोड़ों से उनके शरीरों को कूटते हैं। गरम-गरम तैल में समोसे की तरह तलते हैं। कोल्हू में तिलों की तरह पेलते हैं। वे अपनी वैक्रियशक्ति द्वारा खड्ग आकार के पत्रों वाले वन बनाकर बैठे हुए नारकियों पर तलवार जैसे तीखे-तीखे पते गिराते है; और उनके अंग-प्रत्यंगों को तिलों के दाने जितने छोटे-छोटे करते रहते हैं। परमाधार्मिक देव नारकी देवों को जब कुंभियों में पकाते हैं; तब तो वे जीव पाँच-पाँच सौ योजनों तक उपर उछलते हैं; छटपटाते हुए फिर वहीं आकर गिरते हैं। वे नारकी जीवों को आग जैसी तपी हुई बालु-रेती

पर फैंकते हैं, दौड़ाते हैं, लिटाते हैं, नारकियों के मांस के छोटे-छोटे टुकड़े करके भाड़ में चने की तरह भूनते हैं। वे असुर नारकियों को तप हुए सीसे, तांबे, रुधिरादि अशुचि पदार्थों से भरी हुई, उबलती वैतरणी नदी में डुबोते हैं, उन्हें तैरने के लिए विवश करते हैं। वे तपी हुई लौहमयी स्त्री से आलिंगन करवाते हैं आदि, विविध-विविध रीति से निरंतर दुःख ही दुःख देते रहते हैं।

नरक-गति में जाने योग्य जीव के लक्षण

जो घायइ सत्ताइं, अलियं जंपेइ, परधणं हरइ।
परदारं चिय वच्चइ, बहुपाप-परिग्गहासतो।।

चंडो माणी थद्धो, मायावी निट्ठुरो खरो पावो।
पिसुणो संगहसीलो, साहूण निंदओ अहम्मो।।

दुट्ठबुद्धी अणज्जो, बहुपावपरायणो कयग्घो य।
बहुदुक्ख-सोगपरओ, मरिउं निरयम्मि सो जाइ।।

जो जीवों की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, दूसरों के धन को चुराता है, परादारा गमन करता है, बहुत सारे पाप-कृत्य करता है, परिग्रह में आसक्त रहता है, ऐसा जीव मरकर नरक में जन्म लेता है।

क्रोधी, अभिमानी, स्तब्ध, मायावी, निष्ठुर-कर्कशभाषी खल, पापी, चुगलखोर, संग्रहशील, साधु-निंदक, अधर्मी, दुष्टबुद्धि, अनार्य, बहुत से पाप कार्यों में परायण, कृतघ्नी, बहुत दुःख और शोक करने वाला जीव प्रायः मरकर नरक में पैदा होता है।

चउहिं ठाणेहिं जीवा नेरइयाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तंजहा-महारंभयाए।
महापरिग्गहयाए। पंचिंदियवहेणं। कुणिमाहारेणं।। स्था. ४/४/३७३।।

चार कारणों से जीव नरकगतिप्रायोग्य आयुष्य कर्म बाँधते हैं; (१) महारंभ– ज्यादा से ज्यादा प्राणियों की हिंसा हो; तीव्र-कषायपूर्वक ऐसी प्रवृत्ति करना। (२) महापरिग्रह– बड़े पैमाने में पदार्थों पर प्रगाढ़ मूर्च्छा, ममता एवं आसक्ति से। (३) पंचेन्द्रिय वध– पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा से। (४) कुणिमाहार– मांसाहार से।

चित्र विचित्र मनुष्य संसार

जैन-दर्शन जन्म की अपेक्षा से मनुष्य के दो भेद मानता है– (१) गर्भज मनुष्य, (२) संम्मूर्च्छिम मनुष्य।

माता-पिता के संयोग– शुक्र और रक्त के बिना जन्मग्रहण करना सम्मूर्छिम जन्म कहलाता है।

गर्भ में रहे हुए पुरुष के शुक्र और स्त्री के शोणित-रक्त पुद्गलों को अपने नए शरीर के निर्माण के लिए ग्रहण करना, स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण कर या अपूर्ण रखते हुए एक नए जीवन की शुरूआत करना गर्भज जन्म कहलाता है।

मानव के रूप में जीव जिन क्षेत्रों में जन्म धारण कर सकता है, वे क्षेत्र तीन है; अतः परमात्मा ने क्षेत्र की अपेक्षा से मानव को तीन वर्गों में भी बाँटा है-

(१) कर्मभूमिज-कर्मभूमि में जन्म लेने वाले मानव।

(२) अकर्मभूमिज-अकर्मभूमि में जन्म लेने वाले मानव।

(३) अन्तर्द्वीपिक-अन्तर्द्वीपों में जन्म लेने वाले मानव।

मनुष्य के रूप में जीव मनुष्य क्षेत्र-मात्र अढ़ीद्वीप जंबूद्वीप १ + धातकीखंड १ + अर्ध पुष्करवर द्वीप १/२ = २ १/२ प्रमाण क्षेत्र में ही जन्म धारण कर सकता है।

कर्म अकर्म भूमि का स्वरूप

कर्म तीन है - (१) असि, (२) मषी, (३) कृषि।

जिस क्षेत्र में असि-अर्थात् तलवार; युद्धादि के लिए नानाविध तलवारादि अस्त्र, शस्त्र बनाना, बनवाना; मषी अर्थात् स्याही; यानि पठन, पाठन, लेखनादि विद्या संबंधी कार्य करना, करवाना; और कृषि अर्थात् खेती; यानि पशुपालन, खेतीवाड़ी वाणिज्य उद्योगादि; और मोक्षानुष्ठान-श्रुत एवं चारित्र रूप धर्म की आराधना आदि हों, उसे कर्मभूमि क्षेत्र कहते हैं। जहाँ ये कर्म न हों उसे अकर्मभूमि क्षेत्र कहा जाता है।

तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेवादि श्लाका-पुरुष एवं विद्याधर-पुरुष कर्मभूमि में ही जन्म धारण करते हैं। मनुष्यों को साधु, संतों एवं सामान्य से जिनालय, जिनबिंबादि का योग भी इसी कर्मभूमि में प्राप्त हो सकता है। जीव मुक्ति के लिए कर्मक्षयप्रधान साधना भी कर्मभूमि पर ही कर सकते हैं; अकर्मभूमि या अंतर्द्वीपो में नहीं।

अकर्मभूमियों एवं अन्तर्द्वीपों में युगलिक मनुष्य व युगलिक पशु-पंछी रहते हैं। युगलिक जीव प्रकृति से भद्र और संतुष्ट होते हैं। उनकी आवश्यकताएँ बहुत ही

अल्प होती हैं। अकर्मभूमियों एवं अन्तर्द्वीपों में जो मत्तांग, भृत्तांग, त्रुटितांग, दीपांगादि दस प्रकार के कल्पवृक्ष पाए जाते हैं; युगलिक जीव उन्हीं से अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करते हैं। युगल-जोड़े के रूप में जन्म लेने के कारण ये युगलिक कहलाते हैं। योग्य आयु पाकर युगल ही आपस में पति-पत्नी बन जाते है। छः मास आयु शेष रहने पर युगल एक नए युगल को जन्म देता है एवं कुछ नियत दिनों तक नवजात युगल का पालन-पोषण कर वे एक साथ ही मर जाते है।

सम्मूर्च्छिम मनुष्य जन्म के चौदह अशुचि स्थान

(१) उच्चरेसु-विष्टा में, (२) पासवणेसु-मूत्र में, (३) खेलेसु-कफ में, (४) सिंघाणेसु-नाक के मैल में, (५) वंतेसु-वमन में, (६) पित्तेसु-पित्त में, (७) पूएसु-पीप और दुर्गंध युक्त बिगड़े घाव से निकले हुए खून में, (८) सोणिएसु-शोणित खून में, (९) सुक्केसु-शुक्रवीर्य में (१०) सुक्केपुग्गलपरिसाडेसु-वीर्य के सूखे हुए पुद्गलों गीले होने में (११) विगयजीवकलेवरेसु - जीव रहित शरीर में (१२) थी-पुरीससंजोएसु-स्त्री पुरुष के संयोग (समागम) में, (१३) णगरनिद्धमणेसु-नगर की मोरी में, (१४) सव्वेसु असुइट्ठाणेसु-सब अशुचि स्थानों में सम्मूर्च्छिम मनुष्य जन्म लेते है।

मनुष्यायु बंधन के कारण

चउहिं ठाणेहिं जीवा माणुस्साउयत्ताए कम्मं पगरेंति; तंजहा-पगतिभदत्ताए।

पगतिविणीययाए। साणुक्कोसयाए। अमरिच्छताए।। स्था.४/४/३७३।।

चार कारणों में जीव मनुष्य गति प्रायोग्य आयुष्य कर्म बाँधते हैं-(१) भद्रता-सरल प्रकृति के कारण (२) विनीत प्रकृति के कारण (३) दयामय-व्यवहार के कारण (४) ईर्ष्या न करने के कारण।

अज्जव-मद्दवजुतो, अकोहणो दोसवज्जिओ वाई।

न य साहुगुणेसु ठिओ, मरिउं सो माणुसो होइ।।

ऋजुता और मृदुता से युक्त, क्रोध और द्वेष से रहित, सत्यभाषी और जो साधु के योग्य गुणों में स्थित नहीं है (क्योंकि साधु और व्रतधारी श्रावक मरकर देव-गति में जाते हैं, अतः) ऐसा व्यक्ति मरकर मनुष्य बनता है।

मनुष्य भव की उत्तमता का कारण

सुर-नारयाण दुण्णि वि, तिरियाण हुंति गइ य चत्तारि।

मणुआण पंच गई, तेणं चिअ उतमा मणुआ।।

देवता और नारकी जीव मरणोपरांत-मनुष्य और तिर्यंच गतियों में से ही किसी गति में जन्म ले सकते हैं। तिर्यंच जीव मरणोपरांत चारों गतियों में से किसी गति मे जन्म ले सकते हैं; जबकि मात्र मनुष्य ही पांच– चार गतियों के सिवाय पांचवी-मोक्ष गति में जा सकते हैं। मानव-भव उत्तम है।

चित्र विचित्र देवसंसार

ज्यों पाप-कर्मों का दारुण फल भोगने का स्थान है नरक, त्यों ही पुण्य-कर्मों के मधुर फल भोगने का स्थान है देवलोक। नरकभूमि में जीव ज्यों नानारूपों से दुःख ही दुःख भोगते हैं; त्यों ही देवलोक में जीव सुख ही सुख भोगते हैं।

नरक-भूमि एवं देवलोक में जन्म लेने वाले जीवों का जन्म उपपात जन्म कहलाता है।

उपपात जन्म– उपपात नामक शय्या पर अथवा कुंभी में पहुँचते ही जीव मात्र अंतर्मुहूर्त प्रमाण काल में ही स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण कर और युवावस्था को प्राप्त कर जो नए जीवन का प्रारंभ करता है; वह उपपात जन्म कहलाता है। देव का जन्म उपपात-शय्या पर एवं नारकी का जन्म कुंभी में होता है।

परमात्मा ने देवों को चार वर्गों में बाँटा है-

(१) भवनवासी (२) वाणव्यंतर (३) ज्योतिषी (४) वैमानिक।

भवनवासी देवताओं के भेद हैं २५। असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत् कुमारादि दस जातियाँ भवनवासी देवों की और असुरकुमारजातीय अंब, अंबरीष, श्याम, शबलादि १५ परमाधार्मिक देवों की जातियाँ हैं। इन २५ प्रकार के देवों के दो-दो भेद हैं - (१) पर्याप्ता, (२) अपर्याप्ता।

भवनवासी देवों का सामान्य परिचय

भवनवासी देवता भवनों एवं आवासों में रहते हैं। असुरकुमार नामक भवनवासी देवता ही भवनों में; शेष नागकुमारादि भवनवासी देवता आवासों में रहते हैं। भवनों एवं आवासों के आकार में अंतर पाया जाता है; जो बाहर से गोल, अंदर से चतुष्कोण और नीचे से कमल की कर्णिका के आकार वाले हों वे भवन कहलाते हैं। तथा देह-प्रमाण बड़े, मणि एवं रत्नों के दीपकों से चारों दिशाओं को प्रकाशित करने वाले मंडप आवस कहलाते हैं। भवनों के चहुं ओर

गहरी और विस्तीर्ण खाइयाँ और परिखाएँ होती हैं।

परमाधार्मिक देवों का सामान्य परिचय

जो पूर्वजीवन में अज्ञान एवं संक्लिष्टपरिणाम पूर्वक क्रूरक्रियाएँ करते हुए पंचाग्नि तप, कायक्लेशादि तप सहन करते रहते हैं; ऐसे जीव अधिकतर मरणोपरांत भवनवासी असुरकुमार जाति में परमाधार्मिक देवों के रूप में जन्म लेते हैं। पापाचारी और क्रूर अध्यवसायी ये असुरजातीय परमाधार्मिक देवता तीसरी नरक तक नारकियों को नाना प्रकार के दुःख कष्ट देते हैं। जैसे यहाँ क्रूर, हिंसक मनुष्य भैंसे, साँढ, मुर्गे आदि को कष्ट पाते देखकर प्रसन्न होते हैं, तालियाँ बजाते हैं, वैसे ही परमाधार्मिक देवता नारकियों को दुःखी देख-देखकर बहुत प्रसन्न होते हैं, तालियाँ बजाते हैं, हर्ष अभिव्यक्त करते हैं।

वाणव्यंतर देवों का सामान्य परिचय

वाणव्यंतर देवता वनों, पर्वतों, गुफाओं, विविध प्रकार के भवनों, नगरों एवं आवासों में रहते हैं। तिर्यक्मध्यलोक में भी व्यंतर देवों के नगर हैं। व्यंतर देवों के आवास तीनों लोकों में हैं। बहुत से व्यंतर देवता चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेवादि के सेवक बनकर सेवा करते रहते है। ये वाणव्यंतर देवता पिशाच, भूत, यक्ष, किन्नर, किंपुरुषादि के भेद से आठ प्रकार के होते है। ये देवता मनुष्य क्षेत्रों में इधर उधर घूमते रहते हैं। टूटे, फूटे घरों, जंगलों, वृक्षों एवं शून्य स्थानों में रहते हैं।

गंधर्वदेवों के भेद

जो वाणव्यंतर देवता तरह-तरह की राग-रागिणियों के जानकार होते हैं; लगभग गीत-गान में ही मस्त रहते हैं वे गंधर्व देव कहलाते हैं। इनका चित्त बहुत ही चंचल होता है। ये विनोदी प्रकृति के होते हैं; इन्हें हंसी, खेल आदि में विशेष रुचि रहती है। सुंदर-सुंदर आभूषण एवं विशेषतः पुष्पों के आभूषणों को पहन कर वनविहारादि करना; हंसी-मजाक करना; इन्हें अधिक रुचता है। ये अपनी इच्छुसार कामभोगों का सेवन करते हैं। गंधर्व देवों के आणपण्णे, पाणपण्णे, इसिवाई, भूयवाई आदि आठ भेद हैं।

तिर्यग्जृंभक देवों का संक्षिप्त स्वरूप

तिर्यग्-मध्यलोक में रहने वाले जृम्भक-स्वेच्छानुसार प्रवृत्ति करने वाले और

निरंतर क्रीड़ा में रत रहने वाले देव तिर्यग्जृंभक देव कहलाते हैं। ये अतिप्रसन्नचित्त रहते हैं। ये अधिकतर मैथुनसेवन में रत रहते हैं। जिन व्यक्तियों पर ये प्रसन्न होते हैं उन्हें तो ये सभी रीति से सुखी, संपन्न बना देते हैं और जिन व्यक्तियों पर ये रुष्ट, कुपित होते हैं तो उन्हें ये कई प्रकार से हानि पहुँचाते रहते हैं। विशेषतः ये अपने नाम के अनुरूप ही प्रमुखरूप से कार्य करते हैं। ये दस प्रकार के होते हैं।

(१) अन्नजृंभक– अपनी शक्ति से भोजन के परिमाण को घटा एवं बढ़ा सकने; सरस या नीरसादि बना सकने वाले देव।

(२) पानजृंभक– अपनी शक्ति से पेय-पदार्थों के परिमाण को घटा एवं बढ़ा सकने; सरस या नीरसादि बना सकने वाले देव।

(३) वस्त्रजृंभक– अपनी शक्ति से वस्त्रों के परिमाण को घटा एवं बढा सकने वाले देव।

(४) लयनजृंभक– गृहादि की रक्षा करने वाले देव।

(५) शयनजृंभक– शय्यादि की रक्षा करने वाले देव।

(६) पुष्पजृंभक– पुष्पों की रक्षा करने वाले देव।

(७) फलजृंभक– फलों की रक्षा करने वाले देव।

(८) पुष्प-फलजृंभक– पुष्पों एवं फलों की रक्षा करने वाले देव। किसी-किसी आगम में पुष्प-फलजृंभक नाम के बदले मंत्रजृंभक (मंत्रों की रक्षा करने वाले देव) नाम प्राप्त होता है।

(९) अव्यक्तजृंभक– सामान्यतः सब पदार्थों की रक्षा करने वाले देव। किसी-किसी आगम में अव्यक्तजृंभक नाम के बदले अधिपतिजृंभक नाम प्राप्त होता है।

ज्योतिषी देवों का संक्षिप्त स्वरूप-

चंद्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारे, इन पांच प्रकार के देवों को ज्योतिषी देव कहा जाता है। इनका निवास मध्यलोक में हैं। मध्यलोक में मेरूपर्वत के समभूभाग से ७९० योजन से लेकर ९०० योजन तक यानि कुल ११० योजन प्रमाण ऊर्ध्व क्षेत्र में लाखों स्फटिकरत्नमय, आधे कबीट्ठ फल के आकार वाले विमानवास हैं।

वैमानिक देवों का संक्षिप्त स्वरूप

आचार की अपेक्षा से परमात्मा ने वैमानिक देवों को दो वर्गों में बाँटा हैं- (१) कल्पोपपन्न (२) कल्पातीत।

जिन देवों में इंद्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि विशेष और सामान्य रूप में व्यवस्था रूप आचार हैं; जिन देवों में छोटे बड़े का भाव है, वे कल्पोपपन्न देव कहलाते हैं; और जिन देवों में इंद्र, सामानिकादि देवों जैसी कोई विशेष और कोई सामान्य जैसी व्यवस्था ही नहीं; सभी देवता स्वयं को अहमिंद्र (मैं ही इंद्र हूँ) ही मानते हैं; वे कल्पातीत देव कहलाते हैं।

बारह देवलोकों में कल्प संबंधी व्यवस्था है; जबकि नव ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर देवों में कल्प संबंधी कोई व्यवस्था ही नहीं; वहाँ व्यवस्था की कोई आवश्यकता भी नहीं है।

बारह देवलोकों के नाम

(१) सौधर्म देवलोक (२) ईशान देवलोक (३) सनत्कुमार देवलोक (४) माहेन्द्र देवलोक (५) ब्रह्म देवलोक (६) लातंक देवलोक (७) महाशुक्र देवलोक (८) सहस्रार देवलोक (९) आनत देवलोक (१०) प्राणत देवलोक (११) आरण देवलोक (१२) अच्युत देवलोक।

कल्पातीत देवों के दो भेद हैं - (१) ग्रैवेयक (२) अनुत्तरोपपातिक

ग्रैवेयक देवताओं के नव भेद हैं-

(१) अधस्तन-अधस्तन (२) अधस्तन-मध्यम (३) अधस्तन-उपरितन (४) मध्यम-अधस्तन (५) मध्यम-मध्यम (६) मध्यम-उपरितन (७) उपरिम-अधस्तन (८) उपरिम-मध्यम (९) उपरितन-उपरितन

अनुत्तरोपपातिक देवों के पाँच भेद है

(१) विजय (२) वैजयंत (३) जयंत (४) अपराजित (५) सर्वार्थसिद्ध।

कल्प संबंधी परिचय

(१) इन्द्रः– सामानिक आदि सभी देवों का स्वामी इंद्र कहलाता है। चारों प्रकार के देवों में कुल ६४ इंद्र हैं। बारह देवलोकों में से नवमें और दसवें देवलोक

का इंद्र एक ही होता है; और ग्यारहवें एवं बारहवें देवलोक का भी इंद्र एक ही होता है।

(२) सामानिकः– इंद्रत्व के सिवाय जो आयु आदि विषयों में इंद्र के समान ही हों; वे सामानिक देवता कहलाते हैं। इंद्र के लिए ये माता, पिता, गुरु के समान पूजनीय होते हैं।

(३) त्रायस्त्रिंशः– मंत्री और पुरोहित जैसा कार्य करने वाले देवता।

(४) पार्षद्य– इंद्र के मित्र देव।

(५) आत्मरक्षकः– आचार-धर्म के पालनार्थ इंद्र के पीछे खड़े रहने वाले शस्त्रधारी देव।

(६) लोकपालः– सीमा की सुरक्षा करने वाले देव।

(७) अनीकः– सोनानायक और सैनिक स्वरूप देव।

(८) प्रकीर्णकः– जनता की तरह रहने वाले देव।

(९) आभियोगिकः– सेवक के रूप में रहने वाले देव।

(१०) अंत्यजः– चांडाल की तरह रहने वाले देव।

देवियों का जन्म दूसरे देवलोक तक ही होता है; अतः दूसरे देवलोक तक के देवी देवता मनुष्यों की तरह ही भोग-विलास में रत रहते हैं। मगर तीसरे और चौथे; पाँचवे और छठे; सातवें और आठवें; एवं नवमे से बारहवें देवलोक तक के देवों के मन में ज्यों ही विषय-सुख भोगने की इच्छा होती है त्यों ही अपने ज्ञान के माध्यम से उन-उन देवों की इच्छा जानकर; उत्तर-वैक्रिय रूप धारण कर; सभी प्रकार के हाव-भाव में निपुण, उत्तमोत्तम आभूषण वस्त्रादि धारण कर देवियाँ स्वयं उनके समीप पहुँच जाती हैं; और वे देवता उनके साथ क्रमशः स्पर्श, रूप शब्द तथा चिंतन मात्र से तृप्ति का अनुभव करते हैं; वे मनुष्यों की तरह विषय सेवन नहीं करते। कारण स्पष्ट ही है कि ज्यों-ज्यों मन में काम-वासना की प्रबलता होती है त्यों-त्यों मन में आवेग बढ़ता है। आवेग जितना अधिक होता है उसे मिटाने के लिए प्रयास भी उतना ही अधिक करना पडता है। दूसरे देवलोक के देवों की अपेक्षा तीसरे देवलोक के देवों में और तीसरे की अपेक्षा चौथे देवलोक के देवों में; इस प्रकार उत्तरोत्तर देवलोक के देवों में

काम-वासना कम होती रहती है। इसीलिए उन्हें काम-वासना से संबंधित सामग्री की आवश्यकता उतनी ही कम पड़ती है। नव ग्रैवेयक और पांच अनुत्तरविमानवासी देवों के मन में तो अत्यंत मंद पुरुषवेद एवं अत्यंत प्रशम-सुख के कारण विषय-वासना संबंधी कोई भाव ही पैदा नहीं हो पाता।

देवी, देवता, भूख, प्यास को अनुव नहीं करते हैं; मगर वे आहारादि ग्रहण करते हैं। देवी, देवता मनुष्य की तरह कवलाहारी नहीं होते; बल्कि आहार की अभिलाषा होते ही उनके देह में शुभकर्मों के प्रभाव के कारण इष्ट, मनोज्ञ, आह्लादक आहार योग्य पुद्गलों का परिणमन स्वतः हो जाता है।

चित्र विचित्र सिद्ध संसार

परमात्मा ने एक अपेक्षा से जीवों के दो भेद बताए हैं-(१) सिद्ध (२) संसारी। जो जीव-अकर्मा यानि कर्म रहित है, वे सिद्ध; और जो जीव सकर्मा-कर्मसहित है वे संसारी।

सिद्ध और संसारी आत्मा में अंतर

चारों गतियों में पाए जाने वाले एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव संसारी है और ज्ञानावरणीय आदि आठों कर्मों का सर्वथा क्षय कर लोकाग्र में सदा स्थित रहने वाले जीव सिद्ध कहलाते हैं।

संसारी जीव अपने कर्मों के अनुसार संसार यानि चौरासी लाख जीव-योनियों, चारों गतियों में घूमते हैं। सभी संसारी जीवों में कर्मों के कारण ही भिन्नता पाई जाती है; जबकि कर्मों के सर्वथा अभाव के कारण सिद्धात्मा किसी भी योनि और गति में नहीं भटकती अर्थात् जन्म मरण धारण नहीं करती; और सिद्धात्माओं में किसी भी प्रकार की भिन्नता नहीं पाई जाती।

संसारी आत्मा को ही कर्मजन्य जन्म, जरा, मरण, सुख, दुःख, शरीर, रोग, शोक, भय, इन्द्रियाँ, वेद, उच्च-नीच, सौभाग्य, दुर्भाग्य, मोह, निद्रा, अंतराय, अज्ञानादि सब स्थितियाँ भोगनी पड़ती हैं, जबकि सिद्धों को कर्मजन्य कुछ भी नहीं भोगना पड़ता।

सभी संसारी आत्माओं में औपाधिक, वैभाविक-पराए गुण या दोष पाए जाते हैं जबकि सिद्धात्माओं में कोई भी औपाधिक, वैभाविक गुण या दोष नहीं पाया

जाता; सिद्धात्माओं में तो शुद्ध चेतना के जो अनंत-ज्ञान, अनंत-दर्शन, अनंत-सुखादि स्वगुण हैं, वे ही गुण पाए जाते हैं।

सभी संसारी आत्माएँ देह और आत्मरूप होती हैं जबकि सभी सिद्धात्माएँ मात्र आत्मरूप होती हैं।

संसारी आत्माएँ अशुद्ध, अबुद्ध और बद्ध होती हैं, जबकि सभी सिद्धात्माएँ पूर्णतः शुद्ध, बुद्ध और मुक्त होती हैं।

नामकर्म के उदय के परिणाम स्वरूप सभी संसारी आत्माएँ सशरीरी होती हैं जबकि नामकर्म के क्षय परिणाम स्वरूप सिद्धात्माएँ अशरीरी होती हैं।

सिद्धात्माएँ अमूर्त होने के कारण सिद्धालय में एक दूसरे में ज्योति में ज्योति की तरह रहती है; मगर हर एक आत्मा का अस्तित्व तो स्वतंत्र ही रहता है।

सिद्ध होने के पूर्व की अवस्था की अपेक्षा से सिद्धों के १५ भेद

(१) तीर्थ-सिद्ध– तीर्थंकर भगवंत के द्वारा संस्थापित चतुर्विध संघ और प्रथम गणधर भगवंत तीर्थ कहलाते हैं। इस प्रकार के तीर्थ की मौजूदगी में जो आत्माएँ सिद्ध होती हैं; वे तीर्थ सिद्ध कहलाती हैं।

(२) अतीर्थ सिद्ध– उपरोक्त तीर्थ की उत्पत्ति से पूर्व अथवा तीर्थ का विच्छेदन होने पर जो आत्में सिद्ध बनती हैं, वे अतीर्थ-सिद्ध कहलाती हैं। जैसे- मरुदेवी माता तीर्थ की उत्पत्ति से पूर्व ही मोक्ष गई थी। भगवान् श्री सुविधिनाथ स्वामी जी से लेकर भगवान् श्री शांतिनाथ स्वामी जी तक आठ तीर्थंकर भगवंतों के अंतर-काल में सात वार तीर्थ को विच्छेद हुआ था; उस विच्दे काल में जो आत्माएँ सिद्ध बनीं, वे अतीर्थ-सिद्ध कहलाती हैं।

(३) तीर्थंकर-सिद्ध– जो आत्माएं तीर्थंकर पद भोग कर सिद्ध बनीं, वें तीर्थंकर सिद्ध कहलाती हैं।

(४) अतीर्थंकर सिद्ध– तीर्थंकर बने बिना यानि सामान्य केवली बनकर मोक्ष जाने वाली आत्माएँ अतीर्थंकर-सिद्ध कहलाती हैं।

(५) स्वयंबुद्धसिद्ध– जो स्वयं-किसी भी दूसरे के उपदेश और किसी बाह्य निमित्त के बिना तत्त्व को जानते हैं; संयम स्वीकारते हैं; और सकल कर्मों का क्षय करके सिद्धत्व को पाते हैं वे स्वयंबुद्ध-सिद्ध कहलाते हैं।

(६) प्रत्येकबुद्धसिद्ध– जो दूसरे के उपदेश के बिना मगर किसी बाह्य– संध्या के रंग, वृद्धत्व आदि निमित्त को पाकर विरत बनते हैं, स्वयं दीक्षा धारण करते हैं या देवता उनको वेश-भूषा देते हैं; और सकल कर्मों का क्षय करके जो सिद्धत्व को प्राप्त करते हैं, वे प्रत्येकबुद्ध-सिद्ध कहलाते हैं।

(७) बुद्धबोधित सिद्ध– जो बुद्ध यानि गुरू, आचार्य आदि के उपदेश से बोध प्राप्त कर चारित्र ग्रहण करते हैं, संयम का पालन करते हुए आठों कर्मो का क्षय करते हैं और सिद्धत्व को प्राप्त करते हैं, वे बुद्धबोधित-सिद्ध कहलाते हैं।

(८) स्त्रीलिंग-सिद्ध– स्त्रीलिंग से कर्मों को क्षय करके जो सिद्धत्व को प्राप्त करते हैं, वे स्त्रीलिंग सिद्ध कहलाते हैं।

यहाँ स्त्रीलिंग शब्द स्त्रीत्व का सूचक है। स्त्रीत्व तीन स्वरूपों में पाया जाता है। (१) वेद (२) शरीर की आकृति (३) वेष।

यहाँ स्त्रीलिंग शब्द में शरीर की आकृति रूप स्त्रीत्व ही मान्य है।

(९) पुरुषलिंग सिद्ध– जो पुरुष शरीर की आकृति में रहते हुए कर्मों का क्षय करते हैं और सिद्धत्व को प्राप्त करते है वे पुरुषलिंग-सिद्ध कहलाते हैं।

(१०) नपुंसकलिंग सिद्ध– नपुंसक शरीर की आकृति में रहते हुए आठों कर्मों का क्षय करने वाले नपुंसकलिंग-सिद्ध कहलाते हैं।

(११) स्वलिंग सिद्ध– जो जिनशासनमान्य रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि लिंग यानि वेशभूषा को धारण कर कर्मों का पूर्णतः क्षय करते हैं और सिद्धत्व को प्राप्त करते हैं वे स्वलिंग सिद्ध कहलाते हैं।

(१२) अन्यलिंग सिद्ध– जो भिन्न-भिन्न परिव्रजाक, तापस, सन्यासी आदि के रूप में रहते हुए कर्मों का सर्वथा क्षय करते हैं और सिद्धत्व को प्राप्त करते हैं, वे अन्यलिंग सिद्ध कहलाते हैं।

(१३) गृहीलिंग सिद्ध– जो गृहस्थ की वेशभूषा में रहते हुए कर्मों का सर्वथा क्षय करते हैं और सिद्धत्व को प्राप्त करते हैं, वे गृहीलिंग सिद्ध कहलाते हैं।

(१४) एक सिद्ध– एक समय में एक ही जीव आठों कर्मों का क्षय करके सिद्धत्व को प्राप्त करता है, वह एकसिद्ध कहलाता है।

(१५) अनेकसिद्ध– एक समय में एक से अधिक सिद्धत्व को पाने वाली आत्माएं अनेक सिद्ध कहलाती हैं।

सिद्धात्मा के आठ गुण

प्रश्नः– मन में एक प्रश्न बार-बार पैदा होता है कि आत्मा और कर्मों का संयोग कब से ?

उत्तरः– इन दोनों का संबंध अनादि काल से हैं। ज्यों सुवर्ण की खान में मिट्टी और सुवर्ण का संबंध अनादि काल से है, त्यों ही आत्मा और कर्मों का संबंध अनादिकाल से है। हाँ, मिट्टी और सुवर्ण का संबंध अनादिकालीन होने पर भी ज्यों जानकार व्यक्ति कुछ प्रक्रियाओं से दोनों को जुदा जुदा कर देता है वैसे ही सुज्ञ व्यक्ति ज्ञान-पूर्वक क्रिया, ध्यान, व्रत, संयमादि शुद्धिप्रधान प्रक्रियाओं से आत्मा और कर्मों को जुदा जुदा कर लेता है। आत्म-प्रदेशों से कर्मों के जुदा होते ही सभी विभाव दूर हो जाते हैं; आत्मा स्वभाव में स्थिर हो जाती है। कर्म आत्मा के मूलगुणों को आवृत्त करते हैं; संवर, निर्जरा और क्षय प्रधानक्रियाएँ उन आवरणों को दूर करती हैं, कर्म दूर होते ही आवृत्त गुण स्वतः प्रकट हो जाते हैं।

कर्म और गुण

कर्म के मूल-ज्ञानावरणीयादि भेद आठ है; और आत्मा के मुख्यतः गुण भी आठ हैं।

(१) ज्ञानावरणीय कर्म– ज्ञान आत्मा का मुख्य गुण है। इस ज्ञान गुण को आवृत्त करने वाला कर्म ज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है। ज्ञान अर्थात् विशेष अवबोध। ज्ञानावरणीय कर्म के प्रभाव से आत्मा को पदार्थ बोध में रुकावट पड़ती है, ज्यों ही ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है त्यों ही आत्मा केवलज्ञान को प्राप्त करती है। केवलज्ञान के प्रकट होते ही आत्मा के लिए लोक एवं अलोक में कुछ भी अज्ञात एवं अज्ञेय नहीं रहता।

(२) दर्शनावरणीय कर्म– आत्मा का एक गुण है दर्शन। दर्शन रूप गुण को आवृत्त करने वाला कर्म दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है। दर्शन अर्थात् सामान्य अवबोध। दर्शनावरणीय कर्म के प्रभाव से आत्मा की दर्शन शक्ति पूर्णरूपेण प्रकट नहीं हो पाती; ज्यों ही दर्शनावरणीय कर्म का क्षय होता है त्यों ही आत्मा केवलदर्शन को प्राप्त करती है। केवलदर्शन के प्रकट होते ही आत्मा के लिए लोक एवं अलोक में कुछ भी अदृश्य नहीं रहता।

(३) वेदनीय कर्म– आत्मा का गुण है अव्याबाध-बिना बाधा के शाश्वत, सुख

का सदा अनुभव। वेदनीय कर्म के कारण जीव अनुकूल एवं प्रतिकूल विषयों के कारण भौतिक, काल्पनिक और अस्थायी सुख दुःख का ही वेदन– करता रहता है; जबकि वेदनीय कर्म के क्षय होने पर जीव अव्याबाध सुख का सदा अनुभव करता रहता है।

(४) मोहनीय कर्म– आत्मा का गुण है क्षायिक सम्यक्त्व। क्षायिक सम्यक्त्व अर्थात् अनंतानुबंधी चारों कषायों एवं दर्शनमोहनीय कर्म की तीनों प्रकृतियों के क्षय से होने वाला तत्त्वरूचि रूप परिणाम क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। यह समकीत जीव को एक ही बार प्राप्त होता है और सदा बना रहता है। अर्थात् प्राप्त हो जाने के बाद कभी जाता नहीं है। मोहनीय कर्म समकित गुण का घात करता है। मोहनीय कर्म के क्षय होने पर आत्मा में पूर्ण सम्यक्त्व क्षायिक सम्यक्त्व गुण प्रकट रहता है।

(५) आयुष्य कर्म– आत्मा का गुण है अक्षय-स्थिति, सदा एक ही स्वरूप में स्थित रहना; जबकि आयुष्य-कर्म के उदय का परिणाम है नियत काल तक एक गति में रहकर पुनः दूसरी गति में नियत, अमुक समय तक रहना; इस रीति से जन्म मरण और जीवन के चक्कर में जीव घूमता रहता है। आयुष्य कर्म के क्षय होने पर जीव पुनः पुनः कभी भी जन्म, मरण धारण नहीं कर पाता और लोक के अग्रभाग पर सदा के लिए स्थिर रहता है। अक्षय स्थिति के साथ ही उनकी अवगाहना भी अटल रहती है; अतः अटल अवगाहना भी सिद्धात्मा का गुण है।

(६) नामकर्म– आत्मा का गुण है अरूपीत्व। नामकर्म के उदयानुसार जीव को अच्छे बुरे, छोटे बड़े, सुरूप, कुरूप सूक्ष्म बादरादि शरीर की प्राप्ति होती है। कार्मणादि शरीर के मिश्रण से जीव रूपी बन जाता है। नाम कर्म के क्षय से आत्मा अशरीरी बन जाती हैः अशरीरी होते ही आत्मा अरूपी बन जाती है। रूप का संबंध शरीर से है।

(७) गोत्र कर्म– आत्मा का गुण है अगुरुलघुत्व यानि न हल्का और न भारी; अशरीरी होने के कारण आत्मा न हल्की और न भारी रहती है। गुरु न होने के कारण आत्मा नीचे नहीं जा सकती और हल्की भी न होने के कारण आत्मा ऊर्ध्वगमन भी नहीं कर सकती। गोत्र कर्म के क्षय के कारण आत्मा में अगुरुलघुत्व गुण प्रकट हो जाता है। अब आत्मा अन्य हल्की या भारी वस्तुओं के व्यवधान

से पूर्णतः मुक्त हो जाती है, सामान्यतः भारी वस्तु के कारण हल्की वस्तु को दब या हट जाना पड़ता है।

(८) अंतराय कर्म– आत्मा अनंत शक्तिमय है, अंतराय कर्म आत्मा की शक्तियों को बाधित करता है। अंतराय कर्म के क्षय होते ही आत्मा स्वतः अपनी शक्तियों को पूर्णरूपेण प्राप्त कर लेती है।

सिद्धपद को पाने के उपयोगी सूत्र

एक्को गुणो महंतो, मणुयभवे जो न होइ अन्नत्तो।
जं जाइ इओ मोक्खं, जीवो कम्मक्खयं काउं।।

जीव 'मनुजभव में ही कर्मों का क्षय करके मोक्ष में जा सकता है, अन्य भवों में नहीं'। मात्र इसी एक विशेषता के कारण मनुजभव अन्य भवों की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

जह लंघणेहि खिज्जंति, रसविकारुब्भवा गरयरोगा।
तह तिव्वतवेण धुवं, कम्माइं सुचिक्कणाइं पि।। सुदंसणाचरियं।।

जिस प्रकार देह में रसविकार के कारण उत्पन्न हुए भयंकर रोग लंघण-भोजन न करने से नष्ट हो जाते हैं; उसी प्रकार निश्चित ही तीव्र 'तप' के आसेवन से चिकने-कठोरतम कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थ अज्झत्थदोसा।।
सूत्रकृतांग १/६/२६।।

क्रोध, मान, माया, चौथा लोभ; ये अध्यात्म-अंतरात्मा के दोष है।
कसाया अग्गिणो वुत्तो, सुय-सील-तवो जलं।। उत्तराध्ययन २३/५३।।

कषायों-क्रोध, मान, माया और लोभ को अग्नि एवं श्रुत, शील और तप को जल कहा गया है।

कसायपच्चक्खाणेणं भंते ! जीव किं जणयइ ? कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ। वीयरागभावं पडिवन्ने य णं जीवे समसुह-दुक्खे भवइ।। उत्तराध्ययन २९/२६।।

हे भगवंत ! कषायों के त्याग से जीव क्या प्राप्त करता है ?

हे देवानुप्रिय ! कषाय के त्याग से जीव वीतरागता को प्राप्त करता है।

और वीतरागता को प्राप्त व्यक्ति सुख और दुःख को एक समान भाव से स्वीकारने वाला बन जाता है; अर्थात् सुख में हर्षित और दुःख में उद्विग्न नहीं होता।

पू. आचार्य श्री धर्मधुरंधरसूरिजी के लेख का संक्षेप

जीव के भव-भ्रमण का इतिहास

यह हुई जीव के विविध स्वरूपों की कुछ झलक. जीव यानि और कोई नहीं हमारा अपना ही जीव. अनुत्तर देवलोक और मोक्ष इन दो अवस्थाओं को छोड़ हमारा जीव सभी रूपों को अनंत-अनंत बार जन्म ले चुका है. हर रूप की शक्य उच्च से नीच तक की प्रायः हर दशा को हम अनंती बार पा चुके है.

हर रूप में कम-ज्यादा प्रमाण में अपने-अपने भरपूर दुःख है, और सुख का थोड़ा सा आभास है. सब से बड़ा दुःख तो यह है कि सुखाभास का इस हद तक का हम पर वर्चस्व है कि हमें उसके साथ में रहे हुए ढ़ेर सारे दुःख, वे दुःख के रूप में लगभग लगते ही नहीं है. और लगते भी है तो अत्यंत आवश्यक के रूप में लगते है. अतः हम उन दुःखों के पक्षधर हो कर उनके रक्षक-पोषक के रूप में हर हालत में खड़े रहते हैं.

जीव को महत्तम व तीव्रतम दुःख होता है निगोद में. आत्मगुणों के महत्तम घात (यही सच में सब से पीड़ादायक दुःख है, और जीव मिथ्यात्व, अविरति व अज्ञान नाम की विपरीतता और संवेदन हीनताओं के चलते इस दुःख का, कोमा में गए हुए व्यक्ति की तरह, अहसास भी नहीं कर सकता) से बिल्कुल जडवत् जीवन है वहाँ. अनंतकाल से जीव वहीं पर एक श्वासोश्वास काल में साढ़े सत्रह भव के हिसाब से जन्म-मरण पाता रहा. कोई चारा नहीं. फिर भवितव्यता बलवान हुई, किसी एक जीव ने संसार का अंत किया और मोक्ष को पाया. बस उसी समय यह एक जीव निगोद के अव्यवहार राशि रूप आनादि-अनंत चक्र से बाहर निकला और व्यवहार राशि में आया. अब जीव के लिए अन्य एकेन्द्रीय से पंचेंद्रिय तक के रस्ते खुले और निगोद रूप एक धुरी के भ्रमण को छोड़; देव, मनुष्य, तिर्यंच व नरक गति की ८४ लाख प्रकार की जीवों के उत्पन्न होने की योनियों की धुरीयों के बने विराट चक्र का अनंतकालीन भ्रमण प्रारंभ हुआ.

उसमें भी निगोद से बाहर निकल कर प्रत्येक वनस्पति से लगाकर तिर्यंच, नरक, देव और मनुष्य गतियों में असंख्य काल तक घूम कर जीव पुनः अनंतकाल के लिए निगोद में चला गया. पुनः भवितव्यता के धक्के से बाहर आया, महत्तम असंख्यकाल तक घूमा और पुनः निगोद में चला गया. यही चक्र अलग-अलग तरीकों से अनंत बार चला और उसी के भाग के रूप में हमारे लिए यह आज भी चल रहा है.

सर्वप्रथम तो अनंत भवों तक जीव को मनुष्य भव ही नहीं मिल पाया. अनंतकाल में एकाध बार मिल भी गया तो आर्यकुल न मिला. आर्यकुल मिला तो जैन धर्म नहीं मिला. ऐसा जन्म भी मिल गया तो जीव के सभी सुखों को दिलाने वाली धर्मगुरू की वाणी का श्रवण नहीं मिला.

वो भी बड़ी दुर्लभता से मिला, तो धर्म की वे हितकारी बातें ही गले नहीं उतरी. और यदि समझ में भी आई तो श्रद्धा नहीं बैठी. श्रद्धा हुई तो उस धर्म का आचरण न हो पाया. और आचरण हुआ भी तो अतिचार भरपूर लगे - निरतिचार न हो पाया.

बीच-बीच में पृथ्वीकाय आदि एकिन्द्रिय की धुरीयों पर असंख्य जन्म जीव बिताता रहा. इसी तरह बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय व चउरिन्द्रिय अपंग व मन-शून्य जन्मों की धुरीयों पर असंख्य काल तक झोले खाता रहा. जीव के हाथ में कुछ भी नहीं था. ठेठ पंचेंद्रियपने में भी जब जीव ने मन सहित का जन्म पाया तब कहीं जा कर उस के लिए धर्म के दरवाजे खुले भी, तो मिथ्यात्व के अंधकार में वे दरवाजे जीव को दिखे ही नहीं.

हमारा यह परम सौभाग्य है कि हम आज तुलनात्मक रूप से बहोत ही अच्छी परिस्थिति में हैं कि हम मनुष्य है, आर्य हैं, जैन है, धर्मश्रवण भी मिलता है, श्रद्धा भी है, और शायद जीवन में यथाशक्य पालना भी है. तो चूकें नहीं और धर्म के माध्यम से जीवन को सफल कर लें.

ध्यान रखें, कि एक बार चूक कर अनंत अंधकार भरे एकेन्द्रिय आदि गति के कूए में कही फिसल नहीं जाओ. वहाँ से बाहर आ पाना जीव के हाथ की बात नहीं हैं.